

आगम-साहित्य में योग के बीज

मुनि श्री राकेश कुमार जी

योग शब्द का व्यापक प्रचलन संभवतः महर्षि पतंजलि के योगसूत्र के साथ हुआ है, किन्तु योग से जो उद्दिष्ट है, किसी न किसी रूप में उसका अस्तित्व पूर्ववर्ती साधना-क्षेत्र तथा लोक-जीवन में भी रहा है। अध्यात्म पर आधारित उस साधना के लिए तप शब्द का प्रयोग अधिक होता था। आत्मा में जो असीम शक्ति, अनुपम ओज मान्यता प्रारम्भ से रही है, उसके प्रकट हो जाने पर आत्मा में छिपी शक्ति उद्घाटित हो जाती है, साधक दुःखों से मुक्त हो जाता है, उसे यौगिक ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इन्हीं कारणों से भौतिक सुविधामय जीवन को गौण मानकर तपश्चरण तथा नानाविध कष्ट का जीवन साधकों को अभिप्रेत हुआ। कष्ट सामान्य व्यवहार की भाषा है। जब कोई व्यक्ति विशेष-लक्ष्य में प्राणपण से जुट जाता है, तो उसके लिए कष्ट का भाव वहां नहीं रहता। वह एक विशेष भावनामय आनन्द में निमग्न होकर हर स्थिति में लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

इस तपःप्रधान साधना के लिए देहातीत स्थिति का विकास तथा बाह्य जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया से मुक्त होना अपेक्षित है। ऐसा होने से ही वासना का क्षय हो सकता है, भोग-लिप्सा अपगत हो सकती है। समय-समय पर बड़े-बड़े धनकुबेर तथा सत्ताधीश भी इस जीवन को सहर्ष अपनाते रहे हैं।

ऐसी घोर तपोमयी कृच्छसाधना में अभिमत साधकों के लिए वैदिक-पौराणिक साहित्य में अवधूत शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, अवधूत का शाब्दिक अभिप्राय 'सर्वथा कंपा देने वाला' या 'हिला देने वाला' है। अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय में जो भाव जुड़ा है, उसमें भोग-वासना के प्रकम्पन की दृष्टि प्रमुख है। जिसने तपोमय जीवन द्वारा एषणाओं को झकझोर दिया, वह अवधूत है। भागवत में ऋषभदेव का एक अवधूत साधक के रूप में चित्रित किया गया है।¹

भागवत के पांचवें स्कन्ध के सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें अध्याय में भरत का, जो वैदिक-पौराणिक वाङ्मय में जड़भरत के नाम से प्रसिद्ध है, चरित्र है। भरत ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभदेव उन्हें राज्य देकर स्वयं तप की साधना में समर्पित हो गये थे। भरत एक महान् शासक थे। वे प्रजा-पालन के साथ ही धर्मासाधना, सदाचार व शिष्टाचार के परिशीलन में रत थे। उन्हें धर्म की अनुचिन्ता में सर्वाधिक त्रास था। उनकी भक्ति तथा धर्मनिष्ठा उत्तरोत्तर इतनी सम्बन्धित हो गई कि उन्होंने राज्य, सम्पत्ति, परिवारादि की ममता को त्यागकर तथा वंशक्रमागत वैभव का यथोचित रूप से पुत्रों में विभाजन कर स्वयं को ब्रह्माराधना में जोड़ दिया। आगे भरत के घोर तितिक्षामय जीवन का एक अवधूत साधक के रूप में वर्णन है। भागवत के ११वें स्कन्ध में दत्तात्रेय का एक अवधूत के रूप में विस्तृत आख्यान है।²

ऐसा लगता है, साधना के क्षेत्र में वह एक तपःप्रधान युग था। जैसी घोर, कृच्छ अवधूत-साधक की चर्या का वर्णन भागवत में हुआ है, बौद्ध साहित्य में भी उसी प्रकार के साधनामय जीवन से सम्बद्ध वर्णन प्राप्त होते हैं। मज्झिमनिकाय³ में एक स्थान पर अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र को सम्बोधित कर बुद्ध ने अपनी उस तपोमय कठोर साधना का विस्तार से वर्णन किया है, जो उन्होंने बोधि प्राप्त करने से पूर्व आचीर्ण की थी।

अवधूत साधक का जिस प्रकार का विवेचन भागवत में आया है। वह वैसा ही है, जैसा मज्झिमनिकाय में बुद्ध के तपश्चरण का वर्णन है। उसी सरणि का संस्पर्श करता हुआ वर्णन जैन-आगमों में प्राप्त होता है। जैन-आगमों में आचारांगसूत्र का विशेष महत्व है। वह

१. भागवत, ५/३/२०

२. वही, ११/७/२५-३०, ३२-३५

३. मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्तन्त, १/२२

ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी सबसे प्राचीन माना जाता है। उसके नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। वे जैसी कठोर साधना करते थे, वह वही कर सकता है, जो भौतिक सुख-सुविधा एवं लौकिक एषणा को मन से सर्वथा निकाल चुका हो, जिसके लिए शरीर बिलकुल गौण हो गया हो, जो आत्मभाव में ही सम्पूर्णतः अपने को खोये हुए हो। भगवान् महावीर की वह चर्या, अत्यन्त कठोरता, उपसर्ग-संकुलता व परमसहिष्णुता एक ऐसा अनिर्वचनीय रूप लिए हुए है जो अवधूत साधना को स्मरण करा देती है।

आचारांग का छठा अध्ययन धूताध्ययन है। अवधूत में से अब उपसर्ग निकाल देने पर धूत बचा रहता है। विसुद्धिमग्न आदि बौद्ध-ग्रन्थों में भी धूतांगों के नाम से तपःसाधना का वर्णन है। भाषा-विज्ञान में प्रयत्नलाघव की एक प्रक्रिया है, जिसके अनुसार शब्द का, पद का एक अंश लुप्तकर उसे संक्षिप्त बना दिया जाता है। व्याकरण में यही प्रक्रिया एकशेषसमास के रूप में प्रचलित है, जहाँ दो शब्दों में से एक ही बचा रहता है, पर वह अर्थ दोनों का देता है। संभव है अवधूत शब्द के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ हो और प्रयत्न-लाघववश संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में धूत ही बचा रह गया हो।

जैन-परम्परा में तप शब्द द्वारा सूचित साधना का अपना एक इतिहास है। जैन-दर्शन-सम्मत नौ तत्त्वों में एक निर्जरा है, जिसका आशय आत्म-संपृक्त विशेष अनुष्ठान, जिससे कर्म निर्जीर्ण होते हैं, तप कहलाता है। निर्जरा-तपस्या के बारह भेद हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचारी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) ध्यान, (११) व्युत्सर्ग।

इनमें आरम्भ के छः बाह्य-तप तथा अन्तिम आभ्यन्तर-तप कहलाते हैं। इन बारह भेदों में प्रतिसंलीनता, ध्यान तथा कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग का योग-साधना की दृष्टि से बहुत महत्व है।

महर्षि पंतजलि ने जिस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया, जैन आगम-साहित्य में सीधे उस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं रहा। वहाँ योग मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति के लिए प्रयुक्त रहा है। अध्यात्मपरक साधना, चैतन्यपरिशुद्धि, अन्तःपरिष्कार, वृत्ति-सम्मार्जन, वृत्ति-निरोध जैसे अर्थ जैन-परम्परा में योग के साथ जुड़े, पर बहुत बाद में। हाँ, आगम-साहित्य में उस आत्मोन्मुख साधना के, जिसे जैन-योग के नाम से संबोधित किया गया, बीज रूप में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

योग के आठ अंगों में ध्यान का बहुत बड़ा महत्व है। यह सातवाँ अंग है। एक ओर इसके पूर्ववर्ती छः अंग तथा दूसरी ओर केवल यह सातवाँ अंग ध्यान, यदि इन्हें तुलित किया जाय तो संभवतः ध्यान का पलड़ा भारी रहेगा। इसके बाद योग का अन्तिम आठवाँ अंग समाधि आता है, जिसके साथ जीवन का चरम-साध्य सध जाता है।

जैन आगम-साहित्य में ध्यान के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

आचारांगसूत्र के नवें अध्ययन में जहाँ भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी साधना का भी उल्लेख है। नितान्त असंग-भाव से विविध रूपों में उनके ध्यान करने के अनेक प्रसंग वहाँ वर्णित हैं।

एक स्थान पर लिखा है—‘भगवान् प्रहर-प्रहर तक अपनी आंखें बिलकुल न टिमटिमाते हुए तिर्यक् भित्ति (तिरछी भीत) पर उन्हें केन्द्रित कर ध्यान करते थे। दीर्घकाल तक नेत्रों के निर्निमेष रहने से उनकी पुतलियाँ ऊपर को चढ़ जातीं, उन्हें देखकर बच्चे भयभीत हो जाते, हन्त-हन्त कहकर चिल्लाने लगते और दूसरे बच्चों को बुला लाते।’ इस संदर्भ से प्रकट होता है कि भगवान् महावीर का यह ध्यान व्राटक-पद्धति से जुड़ा था।

एक अन्य प्रसंग में लिखा है—‘भगवान् अपने विहार-क्रम के बीच यदि गृहस्थ-संकुल स्थान में होते तो भी अपना मन किसी में न लगाते हुए ध्यान करते। किसी के पूछने पर भी अभिभाषण नहीं करते। कोई उन्हें बाध्य करता तो चुपचाप दूसरे स्थान पर चले जाते, अपने ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते।’^१

आगे लिखा है—‘भगवान् अपने साधना-काल में साढ़े-बारह वर्षों में जिन स्थानों में रहे, बड़े प्रसन्न-मन रहते थे। रात-दिन यतनाशील-स्थिर, अप्रमत्तप्रमादरहित, एकाग्र तथा समाहित-शान्त रहते हुए ध्यान में लीन रहते थे।’^२

एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—‘जब भगवान् उपवन के अन्तर-आवास में कभी ध्यानस्थ हुए तब प्रतिदिन वहाँ आने वाले

१. ‘अदु पोरिसि तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंततो झाइ।

अह चक्खु-भीया सहिया, ते ‘हंताहंता’ बहुवे करिसु ॥’, आचारांग, ९/१/५

२. ‘जे के इमें अगारत्था, मीसीभावं पहाय से भाति।

पुट्ठो वि णाभिभासिसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू ॥’, वही, ९/१/७

३. ‘एतेहि मुणी सयणेहि, समणे आसी पतेरस वासे।

राइ दिन पि जयगाणे, अप्पगमत्ते समहिए भाति ॥’, वही, ९/२/४

व्यक्तियों ने उन्हें पूछा—यहां भीतर कौन है ? भगवान् ने उत्तर दिया—मैं भिक्षु हूं।^१

उसके कहने पर भगवान् महावीर वहां से चले गये। श्रमण का यही उत्तम धर्म है। फिर मौन होकर ध्यान में लीन हो गए।^२

सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर को अनुत्तर सर्वश्रेष्ठ ध्यान के आराधक कहा गया है तथा उनके ध्यान को हंस, फेन, शंख और इन्दु के समान परमशुक्ल—अत्यन्त उज्ज्वल बतलाया है।^३

भगवतीसूत्र का प्रसंग है। भगवान् महावीर गौतम से कहते हैं—‘मैं छद्मस्थ अवस्था में था, तब ग्यारह वर्ष का साधु-पर्याय पालता हुआ, निरन्तर दो-दो दिन के (बेले-बेले) उपवास करता हुआ, तप व संयम से आत्मा को भावित करता हुआ, ग्रामानुग्राम विहरण करता हुआ सुंसुमार नगर पहुंचा। वहां अशोक वनखण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर स्थित शिलापट्ट के पास आया, वहां स्थित हुआ और तीन दिन का उपवास स्वीकार किया। दोनों पैर संहत किये—सिकोड़े, आसनस्थ हुआ। भुजाओं को लम्बा किया—फैलाया, एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित की, नेत्रों को अनिमेष रखा, देह को थोड़ा झुकाया, अंगों को—इन्द्रियों को यथःवत् आत्मकेन्द्रित रखा। एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की। यह क्रम आगे विहार-चर्या में चालू रखा।’^४

भगवान् के तपश्चरण का यह प्रसंग उनके ध्यान तथा मुद्रा, अवस्थिति, आसन आदि पर इंगित करता है। इसके आधार पर यह स्पष्ट है कि उनके ध्यान का अपना कोई विशेष क्रम अवश्य था, यद्यपि उसका विस्तृत वर्णन जैन-आगमों में हमें प्राप्त नहीं होता।

जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, भगवान् के समय में सम्भवतः सर्वथा वैसी नहीं थी। आज अनशन, लम्बे उपवास आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मानसिक एकाग्रता चित्तवृत्तियों का नियन्त्रण, सम्मार्जन, ध्यान, समाधि आदि थोड़े गौण हो गये हैं। परिणामतः ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यों तथा पद्धतियों का लोप हो गया है।

आगम-साहित्य में ध्यान आदि का कहीं संक्षेप में कहीं विस्तार से अनेक स्थानों पर विश्लेषण हुआ है। स्थानांगसूत्र में ध्यान का संक्षेप में विवेचन हुआ है। वहां आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल के रूप में ध्यान के चार भेद बतलाए हैं। फिर उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद, उनके लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षाओं की चर्चा है।^५

इसी प्रकार औपपातिकसूत्र में भी ध्यान का वर्णन हुआ है।^६ समवायांग में नामरूप में संकेत हैं।^७

भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में ध्यान के जो प्रसंग प्राप्त होते हैं, उनमें उन द्वारा अनेक आसनों में ध्यान किये जाने का उल्लेख है।

औपपातिकसूत्र में जहां भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमणों के तपोमय जीवन का वर्णन है, वहां एक स्थान पर उल्लेख है—‘उन (श्रमणों) में कई अपने दोनों घुटनों को ऊंचा किए, मस्तक को नीचा किए, एक विशेष आसन में अवस्थित हो ध्यानरूप कोष्ठ में—कोठे में प्रविष्ट थे, ध्यान में संलग्न थे।’^८

औपपातिकसूत्र के इसी प्रसंग में काय-क्लेश के विश्लेषण के अन्तर्गत आसनों की चर्चा है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सातवीं दशा में भिक्षु-प्रतिमाओं के वर्णन में विभिन्न आसनों में ध्यान करने का उल्लेख है।

आगम संबद्ध उत्तरवर्ती साहित्य में योग सम्बन्धी विषयों की चर्चा होती रही है। ओधनिर्युक्तिभाष्य में स्थान या आसन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—(१) ऊर्ध्व-स्थान, (२) निषीदन-स्थान एवं (३) शयन-स्थान।

खड़े होकर किए जाने वाले स्थान-आसन उर्ध्व-स्थान कहे गये हैं। उनके साधारण सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृध्रोड्डीन—ये सात भेद हैं।

१. ‘आयमंतरसि को एत्थ, अहमसित्ति भिक्षु आहट्टु।

अयमुत्तमे से धम्मं, तुस्सिणीए स कसाइए ज्ञाति ॥’, आचारांग, ६/२/१२

२. ‘अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता अणुत्तरं ज्ञाणवरं ज्ञियाइ।

सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, सखि दुएगंतवदातसुक्कं ॥’, वही, १/६/१६

३. ‘तेणं कालेणं समएणं अहं गोयमा। छउमत्थकालियाए एक्कारसकसरियाए छट्ठं छट्ठेणं अणिविखत्तेणं तवोक्कम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुब्बाणुषुण्वि चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारनगरे जेणेव असोयसंडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपायवे पुढवी सिलावट्टाए, तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छिता असोयवरपायवस्स हेट्ठा पुढवीसिला वट्टयंसि अट्टमभत्तं पणिण्हामि, दो विपाये सहट्टु, वधारिय पाणी, एगमोग्गलनिविट्ठविट्ठी, अणिमिसणयणे, ईसिपभार-गएणं काएणं, अहापणिहिएहि गतेहि, सव्विदिएहि गुत्तेहि एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जेत्ता णं विहरामि।’

४. स्थानांगसूत्र, ४/१/६०-७२

५. औपपातिकसूत्र, ३०

६. समवायांगसूत्र, ४/२

७. ‘अवेगइया उइठंजाणु अहोसिरा भाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरति’, औपपातिकसूत्र, ३१

इन उत्तरवर्ती उल्लेखों से प्रतीत होता है कि कभी जैन-परम्परा में यह अभ्यासक्रम सुव्यवस्थित रूप में विद्यमान था, पर आगे चलकर योग का यह अंग अप्रचलित हो गया। फलतः आज स्थिति यह है कि ऊपर जिन आसनों की चर्चा की गई है, उनमें से कुछ को छोड़कर सबको क्रियात्मक रूप में उपस्थापित भी नहीं किया जा सकता।

औपपातिकसूत्र में बाह्य एवं आभ्यन्तर तप का एक प्रसंग है, जहाँ उनकी भेदोपभेद के साथ विस्तृत व्याख्या की गई है। वहाँ प्रायश्चित्त के दस भेद बताये गये हैं।^१ उनमें पांचवां व्युत्सर्ग^२ नामक भेद है उसका आशय कायोत्सर्ग से निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त है। नदी पार करना, उच्चार-प्रतिष्ठापन में अनिवार्य रूप में दोष होना आदि की शुद्धि हेतु यह प्रायश्चित्त है। भिन्न-भिन्न दोषों के लिए भिन्न परिणाम में श्वासोच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग का विधान है।

इस प्रसंग में सहज ही अनुमान होता है कि श्वास-प्रश्वासात्मक प्रक्रिया, जिसका प्राणायाम में समावेश है, जैन-परम्परा में यथा-वश्यक रूप में प्रयुक्त होती रही है।

उपर्युक्त प्रसंगों के अलावा कायोत्सर्ग, प्रतिसंलीनता आदि तप से सम्बद्ध और भी अनेक विषय हैं, जो औपपातिक आदि में विशेष रूप से व्याख्यात हुए हैं, जिनका जैन-योग के अध्ययन की दृष्टि से ध्यान, धारणा, प्रत्याहार आदि के सन्दर्भ में विशेष महत्व है।

इस प्रकार आगम वाङ्मय में विकीर्ण रूप से जैन-योग के बीज पुष्कल मात्रा में प्राप्य हैं, जिनके संचयन के लिए प्रचुर अध्यवसाय व गवेषणा-बुद्धि की आवश्यकता है।

ध्यान चार प्रकार का है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यान—इष्ट-वियोगज, अनिष्ट-संयोगज, निदान, वेदनाजनित—ये चार भेद आर्त्तध्यान के हैं।

प्रियञ्च शेषप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।

आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ तत्त्वार्थसार, ३६

रौद्रध्यान—हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और विषयसंरक्षणानन्द—ये चार रौद्रध्यान के भेद हैं।

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।

रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ तत्त्वार्थसार, ३७

आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान में अशुभ-परिणति की ही प्रधानता है, अतः ये संसार के कारणरूप हैं। दूसरे शब्दों में अशुभोपयोग का नाम ही आर्त्त-रौद्र-ध्यान है।

धर्म्यध्यान—अशुभपरिणति का परित्याग करके प्राणी जब शुभ परिणति में आता है, तब उसका सम्यग्दर्शन के साथ होने वाला शुभोपयोग ही धर्म्यध्यान कहलाता है। यह आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के भेद से चार प्रकार का है।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयायधर्म्यम्। तत्त्वार्थसूत्र

शुक्लध्यान—शुद्धोपयोगरूप ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं। शुक्ल का अर्थ है—स्वच्छ, श्वेत जिसमें भी प्रकार का विकार न हो अर्थात् इसमें एकमात्र वीतरागदशा का ही चिन्तन होता है। दशा से यहाँ पर्यायवान् द्रव्य तथा उसके गुण आदि सभी विवक्षित हैं। इसके आगमों में चार भेद माने गए हैं—पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

(आचार्य रत्न देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ५, राजस्थान, वी० नि० सं० २४८५ से उद्धृत)

१. 'से कि तं पायच्छित्ते? दसविधे पण्णत्ते। तंजहा—(१) आलोयणारिहे, (२) पडिक्कमणारिहे, (३) तदुभयारिहे, (४) विवेणारिहे, (५) विउसग्गारिहे, (६) तवा-रिहे, (७) छेदारिहे, (८) मूलादिहे, (९) अणवट्टप्पारिहे, (१०) पारंचिवारिहे।' औपपातिकसूत्र, ३०